भगवान श्री आदि शंकराचार्य रचित

व्याख्याकार
स्वामिनि अमितानन्द सरस्वती

खण्ड – ४

अनुक्रमणिका

संगति :- पिछले श्लोक में हमने देखा कि जैसे पानी में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के उपर पानी की थिरकन आदि आरोपित कर दी जाती है। वैसे ही अज्ञानवशात् हमने अपने उपर मन के कर्तृत्वादि धर्मों को अपने उपर आरोपित किया हुआ है। वस्तुतः यह हम में है ही नहीं। इसी कर्तापन की वजह से अपने अन्दर छोटे़पने की भावना तथा उससे उत्पन्न समस्त समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। इन परिच्छिन्नताओं से मुक्ति अज्ञान की निवृत्ति के द्वारा ही सम्भव होती है। किन्तु यहां प्रश्न उठता है कि कर्तापन आदि की समस्याएं मन के धर्मों की वजह से हो सकती है, किन्तु राग, द्वेष इत्यादि समस्त विकार तो आत्मा के ही प्रतीत होते हैं, और यदि ऐसा है तो बन्धन एवं परिच्छिन्नताओं की निवृत्ति कैसे सम्भव हो सकती है? इस संशय का समाधान इस श्लोक में आचार्य करते हैं।

श्लोक - २३

रागेच्छासुखदुःखादि बुद्धौ सत्यां प्रवर्तते ।
सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे तस्माद्बुद्धेस्तु नात्मनः।।

अन्वयार्थ :- **राग-इच्छा-सुख-दुःख आदि** - राग, इच्छा, सुख, दुःख आदि, **सुषुप्तौ** - सुषुप्ति में, **नास्ति** - नहीं है, **तु** - किन्तु, **बुद्धौ सत्यां** - बुद्धि के होने पर, **प्रवर्तते** - होती है, **तस्माद्** - अतः, **बुद्धेः** - बुद्धि के है, **न आत्मनः** - आत्मा के नहीं।

श्लोकार्थ :- राग, द्वेष, सुख, दुःख तथा इच्छा आदि मन के अन्तर्गत की विविध वृत्तियों का सुषुप्ति अवस्था में कोई अस्तित्व नहीं होता है, किन्तु बुद्धि के जगने के उपरान्त हुआ करत है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह समस्त विकार बुद्धि के है, आत्मा के नहीं।

व्याख्या :- राग आदि विविध प्रकार की भावनात्मक अनुभूतियों के नाम हैं। जो कि अपने बारे में अज्ञानवशात् की गई अपूर्णता की कल्पना के कारण उद्भूत हुआ करती हैं। जिस पदार्थ के बारे में यह निश्चय होता है कि यह ही हमें सुख देने में समर्थ है, तब उसके प्रति के भाव विशेष को राग कहा जाता है, तथा तद्विपरीत, दुःखदायक के प्रति के भाव विशेष को द्वेष कहा जाता है। विषय के प्रति सुख बुद्धि की प्राप्ति की कामना का नाम ही इच्छा है। उसी प्रकार से अनुकुलता के कारण उत्पन्न भाव विशेष का नाम सुख है, तथा प्रतिकुलता के कारण उत्पन्न भाव विशेष का नाम दुःख है। इस प्रकार अज्ञान की अवस्था में रहते हुए अनुभव में आने वाली यह समस्त वृत्तियां बहुत ही सहज एवं स्वााभाविक सी प्रतीत होती है। इसी कारण उसे आत्मा का स्वभाव भी मान लिया जाता है। इसे कुछ लोग आत्मा में सहज रूप से जुड़े हुए, आत्मा के धर्म मानते हैं।

यह मान्यता तब तक ही सत्यवत् प्रतीत होती है, जब तक जीवन की समस्त अवस्थाओं पर विचार नहीं किया जाता। जाग्रत अवस्था में तो यह विविध वृत्तियां अत्यन्त अपरोक्ष प्रतीत होती हैं। किन्तु सुषुप्ति अवस्था में भी नित्य आत्मतत्त्व का अस्तित्व होने पर भी वहां न तो किसी इच्छा का अस्तित्व है, और न हि तज्जनित रागादि वृत्तियों का। उस समय हमारी बुद्धि लय अवस्था को प्राप्त हो जाती है। वह जाग्रत अवस्था में पुनः जाग्रत हो उठती है, उसके साथ ही समस्त वृत्तियों एवं विकारों का ताण्ड़व आरम्भ हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह समस्त वृत्तियां बुद्धि के विकार मात्र है, न कि आत्मा के धर्म। यदि आत्मा के धर्म होते तो उसकी निवृत्ति कदापि सम्भव नहीं हो पाती। अतः यह निश्चय करें कि हम इन समस्त धर्मों से रहित शुद्ध स्वरूप तत्त्व मात्र ही है। विकार नैमित्तिक है, और उस निमित्त मात्र के नाश से ये समाप्त हो जाते हैं।

श्लोक - २४

संगति :- पिछले श्लोक में हमने देखा कि रागादि समस्त वृत्तियां मन के अन्तर्गत के विकार मात्र है। यह आत्मा के धर्म नहीं है। क्योंकि यह विकारों की अनुभूति जाग्रत अवस्था में बुद्धि के जाग्रत होने के उपरान्त ही हुआ करती है। सुषुप्ति में जहां बुद्धि लय अवस्था को प्राप्त है, वहां इन विकारों की अनुभूति नहीं होती हैं।

इससे यह निश्चय तो हो गया कि आत्मा इन समस्त धर्मों से रहित है, तथापि यह प्रश्न होता है कि इनके संगवशात् आत्मा में उनके दोष की प्राप्ति तो हो सकती है। इसके समाधान में आगे के श्लोक में आचार्यश्री अनेकों दृष्टान्तों के माध्यम से आत्मा की असंग एवं शुद्ध स्वरूपता का प्रतिपाद करते हैं।

प्रकाशोऽर्कस्य तोयस्य शैत्यमग्नेर्यथोष्णता।
स्वभावः सच्चिदानन्द नित्य निर्मलतात्मनः॥

अन्वयार्थ :- **प्रकाशः** - प्रकाश, **अर्कस्य** - सूर्य का, **शैत्यम्** - शीतलता, **तोयस्य** - जल की, **उष्णता** - गर्मी, **अग्नेः** - अग्नि का, **स्वभावः** - स्वभाव है, **आत्मनः** - आत्मा का, **स्वभावः** - स्वभाव, **नित्य** - नित्य, **सच्चिदानन्द** - सच्चिदानन्द, **निर्मलता** - निर्मल स्वरूप है।

श्लोकार्थ :- जैसे सूर्य का स्वभाव प्रकाश स्वरूप, जल का शीतलता, और अग्नि का उष्णता आदि है। वैसे ही आत्मा स्वरूपतः सच्चिदानन्द, नित्य एवं शुद्ध स्वरूप ही हैं।

व्याख्या :- हम स्वभावतः मुक्त एवं सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। यदि इसका यह स्वरूप न होता तो न कभी इसकी प्राप्ति की इच्छा होती और नहीं बन्धन की निवृत्ति हो पाती। आज अपने में बन्धन, जन्मादि विकार, जड़त्व एवं दुःखरूपता की प्रतीति हो रही है। प्रतीति कैसी भी हो, उससे स्वरूप में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता है। वह किसी निमित्तवशात् ही हुआ करती है। विचार के द्वारा उसके निवृत्त होने मात्र की अपेक्षा होती है।

यह एक सार्वभौमिक सिद्धान्त है कि कोई भी वस्तु अपने स्वभाव से विपरीत नहीं जा सकती है। यदि किसी निमित्तवशात् उसमें वैपरीत्य दिखाई भी पड़ता है, तो वह केवल काल्पनिक होता है, और अज्ञान रूपी निमित्त ही दूर करने की आवश्यकता होती है। इस बात को आचार्य श्री दृष्टान्त से समझाते हैं। जैसे सूर्य का स्वभाव ही प्रकाश स्वरूप है, यह सतत बना रहता है, उसमें वृद्धि एवं ह्रास कभी नहीं होता है। जल का स्वभाव शीतलता है, अतः जल गरमी के सम्पर्क में आने पर वह गरम प्रतीत होता है, किन्तु यह गरमी निमित्तवशात् है। जल अपने आप ही ठण्डा होने लगता है। तथा जब तक अग्नि बनी रहती है, तब तक उष्णता भी बनी रहती है क्यों कि अग्नि का स्वरूप ही उष्णता है।

उसी प्रकार आत्मा सूर्य की तरह ही नित्य चेतनस्वरूप है। जल की तरह अज्ञान और तज्जनित विकारों से रहित निर्मल है, तथा अग्नि की उष्णता की तरह उसकी आनन्द- स्वरूपता का कभी भी लोप नहीं होता है। आज शरीर आदि जड़ एवं विकारी उपाधि के साथ तादात्म्य के कारण जड़त्व एवं विकारित्व हम में दिखने लगता है। अतः इस विचार की आवश्यकता है कि यह तादात्म्य होने के पीछे क्या कारण है ! उस कारण के दूर करने पर हमें आत्मा का चेतनस्वरूप, अविकारि एवं शुद्ध स्वरूपता का भान होने लगता है। अतः हमें सच्चिदानन्द स्वरूप बनना नहीं है। किन्तु अपने मन को निर्मल बनाते हुए उस अज्ञान रूप निमित्त को ही

दूर करने की आवश्यकता है। यह अज्ञान हमारी बुद्धि में है, अतः ज्ञान से ही दूर किया जाता है।

श्लोक - २५

संगति :- पिछले श्लोक में हमने देखा था कि जैसे सूर्य का स्वभाव प्रकाश है, उसी प्रकार से आत्मा स्वरूपतः सच्चिदानन्द है। आत्मा के सच्चित्स्वरूप होने का अभिप्राय होता है, नित्य ज्ञान स्वरूप। वह नित्य प्रकाश है, उसमें प्रकाशित करने की कोई चेष्टा नहीं है। उसी प्रकार चित् अथवा ज्ञानस्वरूपता से आशय सतत एवं सब कुछ प्रकाशित करना। अब प्रश्न यह होता है कि अगर हम नित्य ज्ञान स्वरूप हैं, तो हम में ज्ञातापना कैसे आ गया? ज्ञातृत्व एक चेष्टा तथा किसी वस्तु का अभी भी अप्रकाशित रहना दिखाता है। अगर हम ज्ञानस्वरूप हैं, तो ज्ञातृत्व का उद्भव कैसे होता है - इस प्रश्न का समाधान आगे के श्लोक में किया जा रहा है।

आत्मनः सच्चिदंशश्च बुद्धेर्वृत्तिरिति द्वयम्।
संयोज्य चाविवेकेन जानामीति प्रवर्तते॥

अन्वयार्थ :- **आत्मनः** - आत्मा के, **सत् चित् अंशः** - सत्, चित् अंश, **च** - और, **बुद्धेः वृत्तिः** - बुद्धि की वृत्ति, **इति द्वयम्** - इन दोनों के, **अविवेकेन** - अविवेक पूर्ण, **संयोज्य** - संयोग से, **जानामि** - 'मैं जानता हूं', **इति** - इस प्रकार से, **प्रवर्तते** - प्रवृत्ति होती है।

श्लोकार्थ :- आत्मा का सत्-चित् अंश और बुद्धि-वृत्ति इन दोनों के अविवेकपूर्ण संयोग से 'मैं जानता हूं ' इस वृत्ति की उत्पत्ति होती है।

व्याख्या :- श्रुति, आत्मा को सर्वव्यापक और चित्स्वरूप प्रतिपादित कर रही है। इसका अभिप्राय होता है, कि हम सदैव स्वप्रकाश तत्व होकर स्थित हैं, और सभी को, सदैव, बगैर चेष्टा के प्रकाशित करते हैं। दूसरी तरफ से, हम 'जानने वाले है' का अभिप्राय होता है, मन कि वह वृत्ति जो अज्ञान का आवरण भंग कर किसी वस्तु विशेष को प्रकाशित करने की चेष्टा के कर्तृत्व से युक्त है। अतः जहां आत्मा के लिए कुछ भी अप्रकाशित नहीं है, वहां ज्ञाता के लिए अनेकानेक वस्तु अज्ञान के परदे के पीछे स्थित हैं। तो अगर आत्मा सूर्य तुल्य प्रकाश पुंज है, तो ज्ञाता अंधकार की दुनिया का एक दीपक मात्र है। अपने आप को ज्ञाता कहने का अभिप्राय है कि हम सर्वव्यापक ज्ञानस्वरूप आत्मा नहीं हैं।
अगर हममें ज्ञातृत्व स्वाभाविक नहीं है, तो यह आता कैसे है? इसका रहस्य बताते हुए आचार्य कहते हैं। मन प्रकृति का कार्य होने से मूल रूप से जड़ है। यह जड़ मन, बुद्धि आदि चिन्मयी आत्मा की सन्निधि में चेतन से हो जाते हैं। मन वृत्ति रूप होता है। जब आत्मा और अनात्मा का स्पष्ट विवेक नहीं होता है, तब हम अपने मूल सच्चित स्वरूपता का, असत् एवं जड़ बुद्धि के साथ तादात्म्य कर एक अज्ञान कलुषित व्यक्तित्व का जन्म कर देते हैं। ज्ञाता में 'मैं हूं' यह सत्स्वरूपता का सूचक है, 'मैं जानता हूं' यह चित्स्वरूपता का सूचक है, और 'मुझे जानना है' यह अज्ञान का सूचक है।

मन के जगते ही, ज्ञाता भी तत्क्षण उदित हो जाता है। समस्या ज्ञाता के जगने में नहीं है, बल्कि अपने को मूलतः ज्ञाता मात्र समझने में है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब का होना समस्या रूप नहीं होता है, किन्तु उसे ही 'मैं' समझ लेना समस्या है। अतः अपनी सच्चित्स्वरूपता को स्पष्ट रूप से जानते हुए आत्मा और अनात्मा के अविवेक को निवृत्त करने की अति आवश्यकता होती है।

श्लोक – २६

संगति :– पिछले श्लोक में हमने देखा कि सच्चित्स्वरूप आत्मा और बुद्धि वृत्ति दोनों के संयोग से 'मैं जानता हूं' इस वृत्ति का उद्भव होता है। इस वृत्ति का होना समस्या रूप नहीं है। किन्तु उसे अविवेकपूर्वक अपना स्वरूप मान लेना समस्या है। वस्तुतः आत्मा में न कोई समस्या है, न ही विकार। अतः अपनी सच्चित्स्वरूपता को स्पष्ट रूप से जानते हुए, आत्मा और अनात्मा के अविवेक को निवृत्त करने की आवश्यकता होती है। आत्मा और बुद्धि के संयोग के परिणाम को और स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री आगे के श्लोक में बताते है।

आत्मनो विक्रिया नास्ति बुद्धेर्बोधो न जात्विति।
जीवः सर्वमलं ज्ञात्वा ज्ञाता दृष्टेति मुह्यति॥

अन्वयार्थ :– **आत्मनः** – आत्मा में, **विक्रिया** – विकार, **न अस्ति** – नहीं है, **बुद्धेः** – बुद्धि में, **बोधः** – चेतनता, **न जातु इति** – कदापि नहीं हैं, **जीवः** – जीव, **सर्वं अलं** – सब कुछ, **ज्ञात्वा** – मानकर, **ज्ञाता** – ज्ञाता, **द्रष्टा** – द्रष्टा, **इति** – इस प्रकार (मानकर) **मुह्यति** – मोहित होता हैं।

श्लोकार्थ :– चिन्मय आत्मा में और जड़ बुद्धि में, दोनों में स्वतः (कर्तृत्व आदि) कोई विकार नहीं है। (चिदाभास रूपी) जीव अपने अज्ञान और अविवेक के कारण अपने को मात्र कर्ता, द्रष्टा आदि मान कर मोहित होता है।

व्याख्या :– आत्मा अविकारी चेतन सत्ता मात्र है – यह तथ्य श्रुति प्रामाणित करती है। इन्द्रियां तथा अन्तःकरण सूक्ष्म महाभूत के कार्य रूप होने के कारण जड़ हैं, अतः स्वयं कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। किन्तु सच्चित्स्वरूप आत्मा और जड़ अन्तःकरण इन दोनों के संसर्ग से बुद्धि में चेतनता का आभास होता है। यह चिदाभास ही जीव कहलाता है।

यह जीव स्वतः एक आभास मात्र ही है। न तो बुद्धि आदि जड़ उपाधियों में उसकी गिनती होती है, और न ही वह चेतन सत्ता है। अतः जीव एक काल्पनिक सत्ता मात्र ही है। किन्तु यह जीव अपनी बिम्ब स्वरूप परमात्मा को नहीं जानता है। बुद्धि की सीमाओं से अपने आपको सीमित जानकर विविध प्रकार की अनुभूतियों को जीव भोगता है, तथा उसके लिए कुछ न कुछ करने की चेष्टा में लगा रहता है। इस प्रकार जीव में कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वाभाविक दिखाई पड़ने लगता है।

जब तक दर्पण रूपी अन्तःकरण का अस्तित्व है, तब तक प्रतिबिम्ब रूपी जीव की प्रतीति रहेगी। यह जीव ही समस्त अनुभूतियों में द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता, कर्ता आदि रूप से स्थित रहता है। इसका होना कोई समस्या का कारण भी नहीं है, किन्तु जब हम अपनी वास्तविकता को नहीं जानकर जीव को ही अपना स्वरूप जानकर अपने आपको कर्ता-भोक्तादि रूप मानते है, तब वह संसार का कारण बन जाता है। अतः इस आभास रूप जीव को मिथ्या जानकर सत्य का विवेक करना ही मुक्ति का एक मात्र उपाय है।

श्लोक - २७

संगति :- पिछले श्लोक में हमने देखा कि आत्मा चेतन स्वरूप, अविकारी सत्ता होने के कारण उसमें कर्तापने का अभाव है, तथा बुद्धि स्वतः जड़ होने के कारण कर्तापने से युक्त नहीं हो सकती है। किन्तु जब चिदाभास रूपी जीव अपने मूल तत्व के अज्ञान के कारण अपने आपको कर्ता मात्र ही मान लेता है, तभी से संसार रूपी समस्या आरम्भ हो जाती है। इस दिव्य आनन्द-स्वरुप चेतनता को जो अपनी ही आत्मा की तरह से नहीं जानते हैं, उनको कैसे भयानक परिणाम भुगतने पड़ते हैं, इसे आगे के श्लोक में बता रहे हैं।

रज्जुसर्पवदात्मानं जीवो ज्ञात्वा भयं वहेत्।
नाहं जीवः परात्मेति ज्ञातश्चेन्निर्भयो भवेत्॥

अन्वयार्थ :- **आत्मानं** - आत्मा को, **जीवः** - जीव, **ज्ञात्वा** - मानकर, **भयं** - भय, **वहेत्** - होता है, (जैसे) **रज्जुसर्पवत्** - रस्सी को सांप समझने से। **न अहं जीवः** - हम जीव नहीं है, **परात्मा** - परमात्मा हैं, **इति** - इस प्रकार, **ज्ञातः** - जानता है, **चेत्** - तो, **निर्भयः** - भयरहित, **भवेत्** - होता हैं।

श्लोकार्थ :- आत्माको जीव मानने से व्यक्ति उसी प्रकार से भयभीत होता है, जैसे रस्सी को सांप समझने से। जब व्यक्ति यह जान लेता है कि हम जीव नहीं है किन्तु परमात्मा ही है, उसी समय वह समस्त भय से मुक्त हो जाता है।

व्याख्या :- परमात्मा रूपी दिव्य सत्ता की एक उपाधि मात्र में अभिव्यक्ति जीव है। जब कोई अपने आपको यह आदि एवं मूल सत्ता नहीं बल्कि उसकी एक छोटी सी अभिव्यक्ति मात्र ही समझ लेता है, तब इस मोहमूलक समझ के साथ ही इस व्यक्ति के जीवन में भय, शोक, धुटन आदि का अध्याय प्रारम्भ होता है। जब हम अपने को जीव मान बैठते हैं, तब उसी क्षण से हम एक छोटे, सीमित एवं अपूर्ण व्यक्ति हो जाते हैं, जिसमें देश, काल एवं वस्तुत्व की स्वाभाविक सीमाएं होती हैं।

जो मूल रूप से परिपूर्ण हो लेकिन अपने को अज्ञानवशात् अपूर्ण मान बैठा हो, उसमें कुछ स्वाभाविक लक्षण देखे जाते हैं। सर्वप्रथम उसमें परिपूर्णता की प्राप्ति की ही मूल इच्छा देखी जाती है। यह ही उसके जीवन का मूल लक्ष्य होता है। अपनी विविध चेष्टाओं के द्वारा वह इसी लक्ष्य की सिद्धि करने के सतत प्रयास करता रहता है।

दूसरा, ऐसे व्यक्ति के लिए 'पूर्णता की प्राप्ति' क्षितिज तक पहुंचने जैसी असम्भव बात होती है, क्योंकि वह अज्ञानवशात् अपने को ही अपने से बाहर ढूंढ़ रहा है। इस कभी न समाप्त होने वाली यात्रा को संसार कहते हैं।

तीसरा, जब भी कोई व्यक्ति अपने से बाह्य वस्तु पर पराधीन होता है, तब उसमें उसी क्षण से भय, धुटन एवं असुरक्षा उत्पन्न हो जाती है। प्राप्ति की असम्भावनाएं, प्राप्ति के उपरान्त प्राप्त वस्तु के खोने का भय, अप्राप्ति में निराशा, क्षोभ एवं शोक की अनुभूति, और वस्तु की प्राप्ति के बाद में भी अपूर्णता वैसी की वैसी बने रहना। यह सब ही चिन्ता, दुःख और भय का हेतु है। भगवान कृष्ण गीता में भी कहते हैं कि, जब भी कोई अपने से बाहर किसी आनन्द के स्रोत को देखता है, तो उसका जीवन भय से आक्रान्त 'दुःखालय' हो जाता है।

ऐसे व्यक्ति का भय आदि केवल रस्सी में आरोपित सर्प की तरह काल्पनिक होता है, अतः यह ज्ञान मात्र से निवृत्त हो जाता है। ऐसी परिस्थितियों में आवश्यक है अपने स्वरूप के ज्ञान की जिज्ञासा की, बाह्य पदार्थो के प्रति मोह भंग होने की, किसी ज्ञानवान की शरण में जाकर ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा रखने की, और अपने सद्गुरु के श्रीमुख से वेदान्त श्रवण की। इसी मोक्षदायी ज्ञान मात्र से समस्त

भय आदि सदैव के लिए निर्मूल हो जाते हैं।

श्लोक - २८

संगति :- पिछले श्लोक में हमने देखा कि स्वस्वरूप का अज्ञान ही मोह का जनक होता है। अपने आपको परमात्मा न जानकर उसकी एक छोटी सी अभिव्यक्ति रूप जीव मात्र मान लेने से ही सांसारिक भय आदि उत्पन्न होते हैं। अतः स्वस्वरूप का ज्ञान ही समस्त भयादि रूप संसार की निवृत्ति के लिए एक मात्र उपाय है। इस ज्ञान के लिए गुरु के चरणों में बैठकर उनके श्रीमुख से वेदान्त का श्रवणादि किया जाता है। आत्म-ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं है, इस रहस्य को आगे के श्लोक में बताया जा रहा है।

आत्मावभासयत्येको बुद्ध्यादीनीन्द्रियाण्यपि।
दीपो घटादिवत्स्वात्मा जडैस्तैर्नावभास्यते।।

अन्वयार्थ :- **एकः आत्मा** - एक ही आत्मा, **बुद्धि इन्द्रियाणि आदीनि**- बुद्धि, इन्द्रियां आदि, **अवभासयति** - प्रकाशित करता है, **दीपः** - दीपक, **घटादिवत्** - जैसे घड़े को, **तैः** - उन, **जड़ैः** - जड़ के द्वारा (बुद्धि आदि के द्वारा), **स्वात्मा** - अपनी आत्मा, न **अवभास्यते** - प्रकाशित नहीं हो सकती।

श्लोकार्थ :- जैसे दीपक द्वारा घटादि विषय प्रकाशित किये जाते है, वैसे ही आत्मा द्वारा बुद्धि और इन्द्रियां आदि करण प्रकाशित होते है । बुद्धि आदि स्वतः जड़ होने के कारण न अपने आपको, और न ही अन्य को प्रकाशित कर सकती हैं ।

व्याख्या :- हमारी समस्त उपाधियां स्थूल एवं सूक्ष्म पंचमहाभूत से निर्मित हुई हैं। स्थूल उपाधि के अन्तर्गत इस स्थूल शरीर का तथा सूक्ष्म उपाधि के अन्तर्गत हमारे अन्तःकरण एवं इन्द्रिय रूपी बहिःकरण का समावेश होता है। यह स्थूलादि उपाधियां पंचमहाभूत से ही निर्मित होने के कारण जड़ हैं। वे स्वतः न तो अपने आपको प्रकाशित करने में समर्थ है, न हीं अन्य को। जो अन्य के द्वारा प्रकाशित होता है, उसे जड़ कहा जाता है। उसको प्रकाशित करने वाला स्वयंप्रकाश स्वरूप आत्मा है। आत्मा, बुद्धि आदि समस्त जड़ उपाधियों को प्रकाशित भी करती है और चेतनता भी प्रदान करती है।

इसी तरह से बुद्धि और इन्द्रियां, आत्मा के प्रकाश से ही प्रकाशित तथा चेतनवान होती हैं। अतः यह जड़ करण आत्मा को प्रकाशित नहीं कर सकते है। जैसे घड़ा अपने आप प्रकाशित नहीं हो सकता है। उसे जानने के लिए दीपक का प्रकाश आपेक्षित है। जो घड़ा दीपक के प्रकाश से प्रकाशित हुआ है, वह घड़ा दीपक को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं होता है, और न ही इसकी आवश्यकता होती है।

अतः आत्मा का ज्ञान विषय ज्ञान के लिए प्रचलित तरीके से नहीं हो सकेगा। तथापि गुरुमुख से शास्त्र प्रतिपादित ज्ञान के श्रवण से उसे जाना जा सकता है। इसका समर्पण एवं श्रद्धा से युक्त होकर गुरु के चरणों में बैठकर श्रवण करना चाहिए। तब ही स्वस्वरूप का ज्ञान संसार रूपी भय की निवृत्ति करने में सक्षम होगा। अतः यह कहा गया है कि 'वेदान्तो नाम उपनिषद् प्रमाणम्'।

श्लोक - २६

संगति :- पिछले श्लोक में हमने देखा कि बुद्धि आदि करण जड़ हैं, अतः वे चेतनस्वरूप आत्मा को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं हैं। आत्मा अन्य किसी लौकिक प्रकाश से भी प्रकाशित नहीं हो सकती है। यदि ऐसा है तो आत्मा को कैसे जाना जाए? आत्मा के ज्ञान के लिए शास्त्र ही एक मात्र प्रमाण हैं। अब प्रश्न यह है कि शास्त्र आत्मा को कैसे प्रकाशित करते हैं? इस प्रश्न का समाधान आचार्यश्री आगे के श्लोक में देते हैं :-

स्वबोधे नान्यबोधेच्छा बोधरूपतयात्मनः।
न दीपस्यान्यदीपेच्छा यथा स्वात्मप्रकाशने॥

अन्वयार्थ :- **यथा** - जैसे, **दीपस्य** - दीपक को, **स्वात्मप्रकाशने** - अपने आपको प्रकाशित करने के लिए, **न अन्य दीप-इच्छा** - दूसरे दीपक की इच्छा नहीं होती है, (वैसे ही), **आत्मनः** - आत्मा को, **बोधरूपतया** - ज्ञान स्वरूप होने से, **अन्य** - दूसरे, **बोध-इच्छा** - ज्ञान की इच्छा, **न** - नहीं हैं।

श्लोकार्थ :- जैसे दीपक को अपने आपको प्रकाशित करने के लिये किसी अन्य दीप की आवश्यकता नहीं है, इसी तरह से ज्ञान स्वरूप आत्मा को अपने आपको जानने के लिये किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

व्याख्या :- जड़ पदार्थ का लक्षण 'परप्रकाश्यम्' होता है, अर्थात् उसे जानने के लिए अन्य प्रकाश की अपेक्षा हुआ करती है। तद्विपरीत चेतनता 'स्वप्रकाश्य' होती है, उसे प्रकाशित होने में किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती है। यदि आत्मा भी किसी अन्य प्रकाश से प्रकाशित होती तो वह भी जड़ की श्रेणी में आ जाती।

आत्मा अर्थात् 'मैं'। क्या अपने होने में किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा हो सकती है? हमारा होना न किसी लौकिक प्रकाश से प्रकाशित होता है, न ही इन्द्रियां आदि जड़ करणों के माध्यम से, क्योकि हम स्वतः सिद्ध हैं। 'हम है' इस प्रकार से हम अपने आपको सामान्य रूप से तो जानते ही हैं। पहले हम हैं, उसके उपरान्त ही बाह्य पदार्थ तथा उनको प्रकाशित करने वाले इन्द्रिय आदि करण प्रकाशित होते हैं।

हमें अपना सामान्य ज्ञान है, किन्तु विशेष ज्ञान कि 'हम कौन है, क्या है' का अभाव है। यह अपने बारे में विशेष ज्ञान का अभाव अर्थात् अज्ञान, जिस प्रकाश में प्रकाशित होता है, वह ही ज्ञानस्वरूप हम हैं। शास्त्र के माध्यम से हमारे होने का प्रमाण नहीं मिलता है, किन्तु अज्ञानवशात् हमने अपने बारे में जो जो धारणाएं उत्पन्न करी हैं, उसे निवृत्त किया जाता है। जैसे जैसे धारणाएं निवृत्त होती हैं, वैसे वैसे निर्मल आत्मा अपनी शुद्ध स्वरूपता से स्वतः प्रकाशित होती है।

इसके लिए आचार्य दृष्टान्त देते हैं कि जैसे जलते हुए दीपक को अन्य दीपक प्रकाशित नहीं करता, न ही उसकी आवश्यकता है। वैसे ही स्वप्रकाश स्वरूप आत्मा अन्य किसी प्रकाश से प्रकाशित नहीं होती है। अतः अपनी स्वप्रकाश स्वरूपता को समझते हुए कुछ नया प्राप्त करने की इच्छा से रहित हो जाएं, तथा अपने उपर आरोपित मिथ्या प्रत्ययों को शास्त्र का आश्रय लेकर निवृत्ति करने की दिशा में ही प्रयास करना चाहिए।

श्लोक - ३०

संगति :- पिछले श्लोक में हमने देखा कि आत्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप है, अतः उसे जानने के लिए अन्य किसी ज्ञान वा प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती, और न किसी बुद्धि आदि करण से उसे जाना ही जा सकता है। यदि ऐसा है तो 'आत्मा को कैसे जाना जाय' यह प्रश्न होता है। यदि यह कहें कि आत्मा को जानने के लिए एक मात्र शास्त्र ही प्रमाण हैं। इससे पुनः प्रश्न होता है, कि अगर आत्मा शास्त्र के द्वारा जानी जाती है, तो आत्मा जड़ तथा साधन पर आश्रित होने से अनित्य एवं परप्रकाश्य हो जाएगी। आत्मज्ञान के लिए 'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम्' जैसे विद्वज्जनों के वाक्य कैसे सार्थक होगें? इस संशय का समाधान आगे के महत्वपूर्ण श्लोक में भगवान श्री शंकराचार्य कर रहे हैं।

निषिध्य निखिलोपाधीन् नेति नेतीति वाक्यतः।
विद्यादैक्यं महावाक्यैः जीवात्मपरमात्मनोः॥

अन्वयार्थ :- **'नेति नेति' इति** - 'नेति नेति' इस प्रकार से, **वाक्यतः** - वाक्यों से, **निखिल उपाधीन्** - समस्त उपाधियों को, **निषिध्य** - निषेध करके, **महावाक्यैः** - महावाक्य के द्वारा, **जीवात्म-परमात्मनोः** - जीवात्मा और परमात्मा का, **ऐक्यं** - एकता को, **विद्याद्** - जानें।

श्लोकार्थ :- 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति-वाक्यों के द्वारा सभी उपाधियों का निषेध करके महावाक्य द्वारा लक्षित जीवात्मा और परमात्मा की एकता को जानें।

व्याख्या :- आज हम जिसे 'मैं' की तरह से जान रहे हैं, वह किसी न किसी उपाधि से उपहित 'मैं' हुआ करता है। अथवा किसी न किसी उपाधि की दृश्य की अपेक्षा 'मैं' हुआ करता है। अपने स्वरूप के साक्षात्कार के लिए हमें अपने सापेक्ष नहीं बल्कि निरपेक्ष परिचय को जानना चाहिए।

इसके लिए आचार्यश्री यहां तरीका बताते हैं कि, जिसे भी तुम 'यह' की तरह जानते हो उसे, तथा जिस भी अपने परिचय को किसी अन्य की अपेक्षा जानते हो, एवं विषयीकृत करते हो उसे 'अनात्मा' अर्थात् 'हम यह नहीं है' इस प्रकार से जान कर अपने उपर से बाधित करें। अनात्म को अनात्म जानने मात्र से वह बाधित हो जाती है। जो निर्विशेष चेतन सत्ता अवशिष्ट रह जाती है, उसे 'मैं' जानें। यह 'मैं' ही तत्त्वमसि आदि महावाक्यों में 'त्वं' पद से लक्षित तत्त्व है।

उसी प्रकार तत्त्वमसि महावाक्य में 'तत्' पद के द्वारा सोपाधिक ईश्वर लक्षित होते हैं। प्रभु की माया रूपी उपाधि जड़ तथा परिच्छिन्न है, अतः उसे भी उपाधि रूप जानने मात्र से बाधित करें। तब जो निर्विशेष चेतन अवशिष्ट रहता है, वह ही हमारी अपनी उपाधियों के निषेध की परम अवधि रूप चेतन सत्ता है। इस प्रकार समस्त अनात्म को बाधित करते हुए स्व को देशकालादि से परे एक अखण्ड सत्ता जानें। यह ही महावाक्य का लक्षित अर्थ है। तथा श्रुति प्रतिपादित परमात्म तत्त्व है।

इस प्रकार अपने आपको जानना ही समस्त बन्धनों से परे मोक्ष रूपी परं पुरुषार्थ की अवस्था है।

श्लोक – ३१

संगति :– पिछले श्लोक में हमने देखा कि जीव और ईश्वर में केवल औपाधिक भेद प्रतीत होता है। उन समस्त उपाधि को शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित निषेध वाक्यों के द्वारा निवृत्त करने पर ही दोनों का यथार्थ एक मात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म है, यह ज्ञात होता है। यह ही मुक्ति का साधन है। इस जीव की उपाधि को कैसे निवृत्त किया जाय! निषेध का स्वरूप क्या होगा! इसे आगे के श्लोक में आचार्यश्री बताते हैं।

आविद्यकं शरीरादि दृश्यं बुद्बुदवत्क्षरम्।
एतद्विलक्षणं विद्याद् अहंब्रह्मेति निर्मलम्।।

अन्वयार्थ :– आविद्यकं शरीर आदि – कारण शरीर आदि, **दृश्यं** – दृश्य, **बुद्बुदवत्** – पानी के बुलबुले की तरह, **क्षरम्** – नाशवान् हैं, **एतद्** – इससे, **विलक्षणं** – विलक्षण, **अहं** – हम, **निर्मलम्** – निर्मल, **ब्रह्म** – ब्रह्म, **इति** – है इस प्रकार से, **विद्याद्** – जानों।

श्लोकार्थ :– अविद्या अर्थात् कारण शरीर से इस स्थूलशरीर पर्यन्त सब शरीर दृश्य है, तथा पानी के बुद्बुदें की भांति नाशवान् है। इससे सर्वथा विलक्षण निर्मल तत्त्व ब्रह्म हम है, ऐसा अपने बारेमें निश्चय करें।

व्याख्या :– आत्मज्ञान के लिए जिस विवेक को किया जाता है, वह है–दृष्टा और दृश्य विवेक। अर्थात् दृष्टा सदैव दृश्य से पृथक् होता है–यह जानते हुए दृष्टा और दृश्य को विवेकपूर्वक अलग देखा जाता है। दृश्य वह है जिसे हम अपने से पृथक् जानते हैं, तथा दृष्टा वह है जो समस्त दृश्य को जानता है। यह दृष्टा हम ही हैं, क्योंकि समस्त दृश्य पदार्थों को जानने वाले हम ही हैं। अतः अपने बारे में यह ज्ञान कि जो हम दृष्टा हैं यह मोक्षदायी ज्ञान है। हम जिन जिन को आज 'मैं' मान रहे हैं, उसमें से हम वस्तुतः क्या है? यह रहस्य 'दृग्दृश्य विवेक' की प्रक्रिया से निश्चय किया जाता है।

सर्व प्रथम हमारी 'अहं बुद्धि' का अनुभव इस स्थूल शरीर में हुआ करता है। क्या मै यह स्थूल शरीर हूं या यह स्थूल शरीर दृश्य है? हम इसे जानते हैं, शरीर मोटा, दुबला, गोरा, काला आदि को हम जानते हैं। यह हमारे ज्ञान का विषय बनता है। अतः यह हम कैसे हो सकते हैं ! इस प्रकार विवेक का आश्रय लेकर अपने बारे में निश्चय किया जाता है। तत्पश्चात् हमारे मन की सुख–दुःखादि रूप वृत्तियों में हमारी अहं बुद्धि होती है। हम इस सूक्ष्म शरीर को 'मैं' मानने के उपरान्त अपने आपको सुखी, दुःखी, कामी, क्रोधी, ज्ञानी अज्ञानी आदि समझते हैं। अतः इसके बारे में भी समान रूप से दृष्टा–दृश्य का विवेक किया जाता है। हम अपने मन के अन्तर्गत की समस्त वृत्तियों को जानते हैं कि कभी सुख की वृत्ति है, कभी दुःख की। यह वृत्तियां आती– जाती हैं। हम जानने वाले इससे पृथक् सदैव विराजमान है। अतः हम यह दृश्य भाव एवं विचार आदि नहीं किन्तु उनके दृष्टा हैं। इन स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर के बारे में दृश्यत्व की वजह से यह निश्चय करते है कि वह हम नहीं हैं। यह दोनों कार्य रूप है। उसका जो कारण है वह अविद्या रूप है। जिसे हम कारण शरीर कहते हैं। वह भी हम नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार जिन जिन उपाधियों को हम दृश्य की तरह अनुभव करते हैं, वह हम नहीं हैं, इस प्रकार से निश्चय करना ही अपने उपर से उपाधियों का निषेध करना होता है। जब समस्त उपाधियों का निषेध कर दिया जाता है तो उनसे विलक्षण दृष्टा ही अवशिष्ट रहता है। वह हम ही समस्त विकारवान् दृश्य पदार्थों से विलक्षण अविकारी दृष्टारूप है। हम दृश्य से विलक्षण होने के कारण न हमारा जन्म होता है, न नाश। हम अविनाशी, अजन्मा होने से अक्षर स्वरूप है। ब्रह्म वह है–जिसका न जन्म होता है, न नाश है। हम जन्मादि से रहित होने के कारण हम ही ब्रह्म है। हम में किसी भी प्रकार के विकार नहीं है। सब के अधिष्टान रूप ब्रह्म हम

होने के कारण माया की समस्त मलिनताओं से रहित है।

इस प्रकार दृष्टा और दृश्य के विवेक से हमें समस्त दृश्य शरीरादि के अनात्म स्वरूप मात्र जानने से उन सब से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

श्लोक – ३२

संगति :– पिछले श्लोक में स्वस्वरूप को जानने के लिए प्रयुक्त निषेध लक्षणा का अर्थ स्पष्ट किया कि दृष्टा और दृश्य का विवेक प्राप्त करके दृश्य को नेति–नेति अर्थात् यह हमारा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार से दृष्टा पर से समस्त दृश्य शरीरादि अनात्मा को बाधित करे। तब जो सब से विलक्षण व परे शेष है वह ही ब्रह्म स्वरूप हम है। इस प्रकार स्वस्वरूप को जानना ही मुक्ति का हेतु है। अपनी इस दृश्य रूपा उपाधि का निषेध कैसे किया जाय इसे आगे के श्लोक में आचार्य बताते हैं।

देहान्यत्वान्न मे जन्म जराकार्श्य लयादयः।
शब्दादिविषयैः संगो निरीन्द्रियतया न च॥

अन्वयार्थ :– देहान्यत्वात् – देह से भिन्न होने से, **मे** – हमारे, **जन्म–जरा–कार्श्य–लय आदय** – जन्म, वृद्धावस्था, क्षय, मृत्यु आदि, **न** – नहीं है, **च** – और, **निरीन्द्रयतया** – इन्द्रियों से रहित होने से, **शब्दादि विषयैः** – शब्द आदि विषयों से, **संगः** – सम्बन्ध, **न** – नहीं है।

श्लोकार्थ :– मैं शरीर से विलक्षण हूं, अतएव जन्म, वृद्धावस्था, क्षय और मृत्यु इत्यादि षड्विकार मुझमें नहीं है। मैं इन्द्रियों से रहित हूं, अतः शब्दादि विषयों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं हैं।

व्याख्या :– हम दृष्टा सदैव दृश्य अर्थात् अनात्मा से पृथक् और विलक्षण है। अतः जिन जिन दृश्य पदार्थो में हमारी आत्मबुद्धि है, उसे अपने उपर से विवेकपूर्वक बाधित करना चाहिए। अर्थात् वह हम नहीं है, यह निश्चय करना चाहिए। इस अनात्मा में आत्मबुद्धि रूप अविवेक की सीमा इस स्थूलशरीर से आरम्भ होती है। अतः सर्वप्रथम स्थूलशरीर के बारे में विचार किया जाता है।

जब यह कहा जाता है कि हम यह स्थूल शरीर नहीं है, इसके अभिप्राय को समझने के लिए अपने आपको शरीर मानकर जब जीते है, उसके अर्थ को समझना होता है। जब हम अपने आपको यह शरीर मान लेते है तब शरीर के जन्म के साथ ही हम अस्तित्व मे आएं है। अतः जब तक शरीर है तब तक ही हमारा अस्तित्व है, शरीर के अन्त के साथ हम समाप्त हो जाएंगे। इस प्रकार अपने आपको काल में बद्ध मान कर काल की सीमाओं से घिर जाते है। तथा जन्म और मृत्यु के साथ ही वृद्धावस्था आदि रूप विकारों की सम्भावनाएं भी खड़ी हो जाती है। हम ही शरीर होने के कारण यह प्रत्येक विकार हम में हो रहे हैं। अतः प्रत्येक विकार हमें सुखी व दुःखी करने में समर्थ हो जाता है, और हम सतत विकारों से बचने की दिशा में प्रयासरत रहते हैं, जो कि असम्भव होता है।

उसी प्रकार अपनी प्रत्येक इन्द्रियों को भी अपनी मान लिया जाता है। तब प्रत्येक विषय से संयोग व वियोग सुखी और दुःखी करने में निमित्त बन जाता है।

अतः जब यह कहा जाता है कि हम स्थूलशरीर नहीं है, इसका अभिप्राय इससे ठीक विपरीत होता है। अपने उपर से स्थूलशरीर की मान्यता को निवृत्त करने के साथ ही अपने आपको देश–काल की सीमाओं से काफी हद तक मुक्त महसूस करने लगते हैं। बुढ़ापा आदि विकार हममें सुखादि की

वृद्धि का कारण नहीं बनता है। उन समस्त विकारों को शरीर में अनुभव करते हुए भी हम उनकी

समस्याओं से मुक्त रहते हैं। इन्द्रियों को जहां अपना मानना बन्द किया तो विषयों से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है – यह बात ज्ञात होने लगती है। इस तथ्य को जानते हुए विषयों से संयोग-वियोग भी शोकादि का निमित्त नहीं बनता है। इस प्रकार अपने उपर से स्थूलशरीर और इन्द्रियों को बाधित करने के द्वारा उनकी परिच्छिन्नताओं से मुक्त होने लगते हैं।

श्लोक – ३३

संगति :– पिछले श्लोक में हमने देखा कि हम स्थूल शरीर से विलक्षण हैं, अतः स्थूल शरीर की परिच्छिन्नता लेश मात्र भी हमारी नहीं है। जैसे जैसे अपने बारे में यह विचार करते हुए स्थूल शरीर से 'मैं' बुद्धि को निवृत्त करते हैं, वैसे वैसे ही हम अपने को उन-उन परिच्छिन्नताओं से मुक्त देखते हैं। अपने आपको जन्म और मृत्यु से रहित तो जान लिया किन्तु अभी भी हम मुक्त नहीं हुए है, क्योंकि अभी भी कुछ अन्य परिच्छिन्नता का अनुभव होता है। अतः आचार्यश्री आगे और विचार की प्रक्रिया को दर्शाते हैं।

अमनत्वान्न मे दुःखरागद्वेष भयादयः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः इत्यादि श्रुतिशासनाम्।।

अन्वयार्थ :– **अमनत्वात्** – मैं मन नहीं होने से, **मे** – हमारे, **दुःखरागद्वेष भय आदयः** – दुःख, राग, द्वेष और भय विगेरे, **न** – नहीं है, **हि** – क्योंकि, **अप्राणः** – प्राणरहित, **अमनाः** – मन रहित है, **शुभ्रः** – शुद्ध है, **इत्यादि** – इस प्रकार से, **श्रुतिशासनात्** – श्रुति बताती हैं।

श्लोकार्थ :– मैं मन नहीं हूं, इसलिए दुःख, राग, द्वेष और भय इत्यादि भी मेरे नहीं है। 'मैं अप्राण, अमन तथा शुद्ध हूं' यह श्रुति भी बताती है।

व्याख्या :– हम 'स्थूल शरीर नहीं हैं' इस निश्चय से जीव जन्मादि के भय से मुक्त हो जाता है, तथापि पूर्ण मुक्ति की दिल्ली अभी भी दूर है। स्थूल शरीर से अन्य 'सूक्ष्म शरीर' नामक जीव की अन्य उपाधि भी होती हैं। इसके अन्तर्गत मन, प्राण, इन्द्रियां आदि का समावेश होता है। प्रत्येक के अपने अपने विशिष्ट धर्म हुआ करते हैं, जिनका भी स्थूल शरीर के धर्मो की तरह अपने उपर आरोपण करके अपने आपको तत्तत् धर्मवान् समझ लिया जाता है। इस तरह से अपने बारे में सीमित रहने का एहसास बना रहता है। मन के अन्तर्गत विविध प्रकार की वृत्तियों का अनुभव होता है। जब किसी पदार्थ के प्रति सुख देने के सामर्थ्य की कल्पना होती है तो उसके प्रति राग और जिसमें दुःख देने के सामर्थ्य की कल्पना होती है, तो उसके प्रति द्वेष की भावना हुआ करती है। कल्पित अनुकुलता की प्राप्ति के समय सुख, और प्रतिकुलता में दुःख का अनुभव होता है। इस प्रकार की अनेकों और भी वृत्तियों का अनुभव होता है। इन-इन वृत्तियों के साथ तादात्म्यवशात् स्वयं को सुखी, दुःखी आदि मानने लगते हैं।

जब इस स्तर के उपर भी दृष्टा और दृश्य का विवेक करते हैं, तब यह बात दिखने लगती है कि यह मन की विविध वृत्तियां हमारे अनुभव का अर्थात् ज्ञान का विषय होने के कारण वह हम नहीं है। क्योंकि दृश्य से दृष्टा सदैव भिन्न हुआ करता है। इसी प्रकार प्राणादि के भूख, प्यास आदि धर्म के विषय में विचार करना चाहिए। यह बात केवल तर्क मात्र ही नहीं है, किन्तु इस विषय में आचार्यश्री श्रुति का भी प्रमाण देते हैं। कि 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' यह मुण्डक उपनिषद् में भी प्रामाणित किया है। इसमें अमनाः शब्द मन आदि उपाधियों का पारमार्थिक अभाव दिखाता है। इस प्रकार श्रुति, युक्ति और अनुभूति के आधार पर हमें यह निश्चय करना चाहिए कि हम इन विकारवान समस्त उपाधियों के परे नित्य शुद्ध, अपरिच्छिन्न, अविकारी सत्ता मात्र हैं। यह निश्चय ही

परिच्छिन्नताओं से मुक्ति के लिए हेतु बनता है।